

(अप्रैल 2013 में लिखा गया यह लेख 'युवा संवाद' के मई 2013 अंक में समय संवाद स्तंभ के अंतर्गत प्रकाशित हुआ था। संविधान की कसौटी को मानें तो हम एक फर्जी राजनीति के दौर में जी रहे हैं। जब राजनीति फर्जी होती है तो अनिवार्यतः उसका असर समाज, अर्थव्यवस्था, प्रशासन, यहां तक कि धर्म और संस्कृति पर भी होता है। हम देख रहे हैं कि हमारे राष्ट्रीय जीवन में फर्जीपन तेजी से बढ़ता ही जा रहा है। इस परिघटना पर गौर करने और समझने के उद्देश्य से लेख नए पाठकों के पढ़ने के लिए फिर ज़ारी किया है।)

फर्जी राजनीति के दौर में

प्रेम सिंह

फर्जी राजनीति का कांग्रेसी घराना

जल्दबाजी में लिखा गया यह 'समय संवाद' कुछ ज्यादा तीखा लग सकता है। जिस तरह से नवउदारवाद के भारतीय एजेंटों ने जीवन के हर क्षेत्र पर खुला हमला बोल दिया है और देश के संविधान को ठोकर लगाकर उल्टा शेखी दिखा रहे हैं, वैसे में सच्चाई अथवा तथ्यों को सीधे-सीधे रखना जरूरी हो जाता है। हम यह जानते हैं कि तथ्यों की महज छाया को छू कर विश्लेषण करने की बहुप्रचलित शैली है। उसमें व्यक्ति और पदनाम का पूरा लिहाज रखते हुए विश्लेषण किया जाता है। किसी पर कुछ आक्षेप करना भी पड़े तो इशारों से काम लिया जाता है। लेकिन व्यक्ति जब प्रवृत्ति बन जाएं तो उनका उल्लेख करना पड़ जाता है। ऐसे में नामोल्लेख का बुरा नहीं माना जाना चाहिए। फिर भी, किसी को लगता है कि उसकी वह प्रवृत्ति नहीं है, जिससे उसे जोड़ा गया है तो हम पहले ही माफी मांग लेते हैं।

अपने लेखन में हमारा सरोकार बहुत सीमित है। हम नवउदारवाद की राजनीति व विचारधारा की पहचान और समीक्षा करने तथा उसके बरक्स एक वैकल्पिक राजनीति और विचारधारा के निर्माण की पेशकश तक सीमित रहते हैं। यह अलग और पाठकों के विचारने की बात है कि हम यह काम कितना सही रूप में कर पाते हैं। नवउदारवादियों और छठम नवउदारवादियों की नजर में हमारा लेखन पूरी तरह निरर्थक हो सकता है। लेकिन जो ऐसा नहीं मानते, उन्हें हमारे लेखन में जो कमी या गलती लगती है, ध्यान दिलाने पर हम उसमें सुधार के लिए हमेशा तैयार हैं।

यह फर्जी राजनीति का दौर है। राजनीति जब देश के संविधान की पटरी से उतर कर किन्हीं इतर निर्देशों पर चलती है तो उसे फर्जी राजनीति कह सकते हैं। फर्जी राजनीति की परिभाषा करने के बजाय उसका सीधे व्यौरा देने और व्याख्या करने से बात ज्यादा समझ में आएगी। आइए वही करते हैं। भारत के वर्तमान प्रधानमंत्री पिछले दस सालों से सरकार चला रहे हैं। नब्बे के दशक के शुरू में बतौर वित्तमंत्री नई आर्थिक नीतियों की शुरुआत भी उन्होंने की थी। तब से लेकर अब तक नई आर्थिक नीतियां नवउदारवाद के वृहद संस्करण का रूप ले चुकी हैं। क्तिपय छोटी वामपंथी (मार्क्सवादी और समाजवादी दोनों)

राजनीतिक पार्टियों को छोड़ कर, भारत की ज्यादातर मुख्यधारा राजनीतिक पार्टियां मनमोहन सिंह और उनकी मंडली द्वारा शुरू और संस्कारित की गई नवउदारवादी व्यवस्था को विकल्पहीन मान कर उसका अनुसरण करती हैं। एक व्यक्ति के लिए यह कम उपलब्धि की बात नहीं कही जाएगी, भले ही नवउदारवाद की वैश्विक संस्थाओं और देश में मौजूद निहित स्वार्थ वाली पूँजीवादी शक्तियों से भरपूर मटद मिली हो। यह मनमोहन सिंह की 'प्रतिबद्धता' का ही उत्कर्ष है कि वे बतौर प्रधानमंत्री तीसरी पारी खेलने के लिए तैयार नजर आते हैं।

सिक्के का दूसरा पहलू यह है कि मनमोहन सिंह को भारत की एक भी समस्या की शायद ही जानकारी हो। दरअसल, वे, भला-बुरा जैसा भी हैं, भारत को जानते ही नहीं हैं। हम भारत के अतीत या मध्यकाल की बात नहीं कर रहे हैं, जिसकी समुचित जानकारी के लिए कई तरह की परतों से होकर गुजरना पड़ता है। हम ठेठ आधुनिक काल की बात कर रहे हैं, जिसमें करीब 200 सालों का उपनिवेशवादी शासन है और उसके खिलाफ भारत के लोगों का संघर्ष है। आजादी के दौर के गांधी युग की बात भी छोड़ दी जाए, मनमोहन सिंह आजादी के बाद के नेहरू युग के बारे में भी नहीं जानते। एक बार संसद में जब नई आर्थिक नीतियों के समर्थन में नेहरू को उद्धृत किया जाने लगा तो चंद्रशेखर ने तल्खी के साथ टोका कि खुली अर्थव्यवस्था के समर्थन में नेहरू को उद्धृत न करें। किसी चीज को जान कर नहीं मानना अलग बात होती है। मनमोहन सिंह ऐसी पूँजीवादी मशीन का नाम है जो विश्व बैंक, आईएमएफ, डब्ल्यूटीओ आदि के आदेशों के अलावा वाकई कुछ नहीं जानते। गोया सब कुछ पहले से फीड किया गया है। तभी उन्हें चिंता होती है कि किसान आत्महत्या कर्यों करते हैं, कोई और काम कर्यों नहीं कर लेते? किसानों की हालत जानने के लिए वे 'पिपली लाइव' फिल्म देखते हैं।

इतना ही नहीं है कि मनमोहन सिंह की भारत के बारे में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक जानकारी लगभग सिफर है, वे किसी मूल्य अथवा नैतिकता के पचड़े में भी नहीं पड़ते हैं। हर्षद मेहता से लेकर 2जी स्पैक्ट्रम और कोयला आवंटन घोटालों तक से उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता है। क्योंकि नैतिकता की नस उनकी मशीनी संरचना में है ही नहीं। जबकि इन सभी घोटालों में नवउदारवाद का प्रधान एजेंट होने के नाते उनकी परोक्ष-अपरोक्ष भूमिका मानी जाएगी। कोयला विभाग सीधा उनके तहत था और ए राजा बार-बार कह चुके हैं कि उन्होंने जो कुछ किया प्रधानमंत्री के कहने पर किया। क्या आप मान सकते हैं कि नवउदारवाद के पारंगत खिलाड़ी को एक कल का मंत्री गुमराह कर सकता है? भले ही भारत के नागरिक समाज और प्रबुद्ध वर्ग को इस पर अचंभा न होता हो, ऐसा षख्स डंके की चोट पर भारत का प्रधानमंत्री है। वे राज्यसभा में झूठ के बल पर आए थे और लोकसभा का चुनाव एक बार लड़े और हार गए। ये हमारा लोकतंत्र चल रहा है!

मनमोहन सिंह को भले ही खुद नहीं लगता हो, लेकिन झूठ से उन्हें कोई गुरेज नहीं है। वे उसे बुरी बात नहीं मानते। इस बाबत हम भारत-अमेरिका परमाणु करार की ओर आपका थोड़ा ध्यान खींचना चाहेंगे। उस प्रकरण में मनमोहन सिंह ने मिथ्यात्व के 'उदातीकरण' की ऐसी बानगी पेश की, जिसकी मिसाल दुनिया में शायद ही कहीं मिले। प्रधानमंत्री कार्यालय और संसद की गरिमा जितनी इस सौदे में गिरी,

उतनी कभी नहीं गिरी थी। पिछले कुछ अरसे से संसद की गरिमा पर हायतौबा मचाने वालों ने तब चूंतक नहीं की थी। परमाणु करार प्रकरण पर उस समय हमने विस्तार से लिखा था, जो 'मिलिए हुकुम के गुलाम से' पुस्तिका में शामिल है। लोकसभा सांसदों को भी हमने उस लेख की प्रति भेजी थी, इस निवेदन के साथ कि अपना मत देने से पहले वह लेख पढ़ लें।

मनमोहन सिंह के ऊपर सोनिया गांधी हैं जिनसे किसी जानकारी की अपेक्षा करना नादानी है। वे देश में प्रधानमंत्री से भी बड़ी ताकत मानी जाती हैं। विदेशी पत्रिकाओं में उनका इस रूप में विरुद्ध छपता है। वे जब से बनी हैं, तभी से कांग्रेस की अध्यक्ष हैं और जब तक उनका बेटा वह जिममेदारी नहीं सम्हाल लेता, बनी रहेंगी। परिवार को जोड़े रखने और फलने-फूलने के लिए सबके ऊपर एक व्यक्ति की सत्ता माननी चाहिए - सामंत काल का यह मूल्य भारत की 'आधुनिक' राजनीति में धड़ल्ले से चलता है। यह भी दुनिया में एक अद्भुत मिसाल है कि देश की सबसे बड़ी पार्टी पूरी तरह से चाटुकारों का जमावड़ा है। सोनिया गांधी का एक बेटा है जिसे पिछले दो दशकों से नेता और देश का प्रधानमंत्री बनाने की कवायद कराई जा रही है। कितने ही कांग्रेसी और विजापन कंपनियां इस परियोजना में लग कर मालामाल होते रहते हैं!

गांव में जिन दिनों खेती बैलों पर निर्भर रहती थी, जवान होने पर बछड़ों को शरीर व दिमाग दोनों से खेती के काम के लिए तैयार किया जाता था। उस प्रक्रिया में बछड़ों के कंधे पर केवल जूआ रख कर रास्तों और खेतों में चलाया जाता था। उस अवधि में वे हिलावड़ बछड़े कहलाते थे। उसी दौरान उन्हें बधिया भी किया जाता था। बछड़ों की थकान दूर करने और शारीरिक शक्ति बढ़ाने के लिए उन्हें बांस की नाल से धी पिलाया जाता था। कुछ दिनों में बछड़ा बैल बन जाता था और हल, बैलगाड़ी, रहट आदि में जोतने के काम आता था। जो बछड़ा खेती के काम के लिए तैयार नहीं हो पाता था, वह साँझ बन कर रह जाता था। कांग्रेसी सोनिया गांधी के आदेश पर राहुल गांधी को नेता बनाने पर पिले हैं। बड़ा घराना है - भारत का प्रथम राजनीतिक परिवार! - तो मीडिया घराने भी सब कुछ लाइव दिखाते हैं। लेकिन वे देश की बात छोड़िए, इतने सालों बाद कांग्रेस के भी किसी काम के नहीं बन पाए हैं। उनका आगे क्या होगा यह खुद कांग्रेसियों को नहीं मालूम है। कोई बड़ा राजनीतिक पंडित उनके भविष्य के बारे में बता सकता है।

कांग्रेसी जब कहते हैं राहुल जी देश की नस-नस जानते हैं तो उसका अर्थ होता है, वे कुछ नहीं जानते। यह सच्चाई ऐसा कहने वाले कांग्रेसी भी जानते हैं। एक बार राय बरेली में एक कांग्रेसी कार्यकर्ता युवक ने राहुल गांधी से अपना नाम पूछ लिया तो वह भी वे नहीं बता पाए। यह जरूरी नहीं है नेता को हर कार्यकर्ता का नाम पता हो या याद रहे। लेकिन जब देश को, उसकी युवा शक्ति को जानने और दिशा देने के ऊचे दावे किए जाते हों तो ऐसे वाकये पोल खोल देते हैं। कांग्रेसी राहुल गांधी को देश का भविष्य बताने और बनाने पर तुले हैं। क्योंकि राहुल गांधी के भविष्य में उनका खुद का भविष्य सुरक्षित है। देश की आजादी के साथ जिस पार्टी का नाम जुड़ा हो, उसका यह हाल है - वह एक फर्जी राजनीतिक पार्टी बन कर हर गई है!

फर्जी राजनीति का संघी घराना

जहां तक नवउदारवाद की स्वीकृति का मामला है, भारत की मुख्यधारा राजनीति में कोई विपक्ष नहीं है। नवउदारवाद के पक्ष की सबसे बड़ी पार्टी कांग्रेस है और दूसरे नंबर की भाजपा है। बाकी के दल कांग्रेस की अगुआई वाले यूपीए और भाजपा की अगुआई वाले एनडीए में शामिल हैं तथा मौका देख कर इन गठबंधनों के बीच आवाजाही करते रहते हैं। उनके इस चलन से कांग्रेस और भाजपा दोनों परेशानी का अनुभव करते हैं। इसीलिए मनमोहन सिंह और लालकृष्ण अडवाणी कहते हैं कि देश में कांग्रेस और भाजपा दो पार्टियां रहनी चाहिए। भाजपा प्रमुख विपक्षी पार्टी इस नाते हैं कि वह नवउदारवाद के पक्ष में दूसरे नंबर की बड़ी पार्टी है और सांप्रदायिक राजनीति में अव्वल नंबर की। वह आगे आएगी तो कांग्रेस को दूसरे नंबर पर जाना होगा। संघ/भाजपा का मानना है कि वे इस देश के बारे में बखूबी जानते हैं; खास कर उसके 'महान' अतीत के बारे में। वे अतीत पर इस कदर मोहित रहते हैं कि आजदी के संघर्ष में हिस्सा लेकर अपना 'मोहभंग' करना उन्होंने गवारा नहीं किया! अतीत के प्रेमियों को वर्तमान में 'कैद' नहीं होना चाहिए, इसीलिए यरवदा जेल से आरएसएस प्रमुख बाला साहेब देवरस ने इंदिरा गांधी को चिठ्ठियां लिखीं कि आरएसएस से प्रतिबंध हटा लिया जाए और उसके स्वयंसेवकों को रिहा कर दिया जाए तो वे 'राष्ट्रीय उत्थान' के काम में सरकार के आदेश का पूरी तरह पालन करेंगे।

भाजपा के सक्रिय नेताओं में लालकृष्ण अडवाणी शीर्षस्थ हैं। देश के सामने जो भी समस्याएं हों, भले ही हाहाकार मचा हो, उन्हें केवल संघियों के आत्म-गौरव की फिक्र खाए जाती है। उन्होंने अभी कहा है कि भाजपा के नेता-कार्यकर्ता राममंदिर आंदोलन पर गर्व अनुभव करें। जाहिर है, उस आंदोलन की पूर्णाहूति बाबरी मस्जिद के ध्वंस और उसके बाद दंगों में मारे गए निर्दोष नागरिकों पर भी गर्व करना है। उस दौरान जो भाले-बरछे लहराए गए, मुसलमानों को गालियां दी गईं, वे भी सब गर्व करने की बातें हैं। आजकल उनकी नरेंद्र मोदी से रेस चल रही है। शायद वे कहना चाहते हैं कि हिंदुत्ववादी गर्व के मामले में उनका कद/काम मोदी से कहीं बड़ा है। उन्होंने पूरे देश में जो 'गर्व से कहो हम हिंदू हैं' की पुकार लगाई थी, उसके सामने एक प्रांत का गौरव भला कहां ठहरता है! कहना न होगा कि जो राममंदिर आंदोलन पर गर्व नहीं करते, वे अडवाणी के भारत में नहीं आते। पूरा जीवन राजनीति करने के बाद 85 साल के नेता की यह समझ है!

फर्जीपन का रोग इलाकाई क्षत्रियों को भी लग चुका है। मुलायम सिंह अडवाणी के नए प्रशंसक बन कर सामने आए हैं। अपने बेटे को जीते-जी मुख्यमंत्री बना कर भी वे संन्यास लेने के मूड में नहीं हैं। खुद प्रधानमंत्री बनना चाहते हैं और बाकी रिश्तेदारों को भी ऊंचे ओहदे दिलवाना चाहते हैं। संघ के शत्रुओं की फेहरिस्त में एक समय टॉप पर रहे मुलायम सिंह यह मान बैठे हैं कि अडवाणी प्रधानमंत्री की रेस से बाहर हैं और उनकी कुछ मदद कर सकते हैं। उन्हें शायद जार्ज की तरह मुगालता है कि संघ परिवार प्रधानमंत्री के लिए उन्हें आगे कर सकता है। वे भूलते हैं कि संघ परिवार देश के सबसे बड़े यानी 'हिंदू परिवार' की राजनीति करता है, न कि मुलायम सिंह की तरह अपने परिवार की।

मुलायम सिंह कहते हैं अडवाणी जी ने विभाजन के चलते बहुत सहा है। देश का विभाजन, जिसमें अडवाणी की पितृसंस्था की भी बड़ी भूमिका थी, एक ऐसी त्रासदी थी जिसकी मिसाल दुनिया में अभी तक नहीं मिलती। विभाजन के दौरान असंख्य लोग तबाह हुए। 10 लाख लोग मारे गए। मनुष्यता की सारी हदें टूट गईं। उस दौरान अडवाणी ने भी बहुत कुछ सहा हो सकता है। इसके लिए उनके प्रति सहानुभूति भी होनी चाहिए। लेकिन सवाल है कि उन्होंने सबक क्या सीखा? एक नेता के नाते वे सांप्रदायिकता की राजनीति को हमेशा के लिए खत्म करने की भूमिका ले सकते थे। लेकिन उन्होंने पूरा जीवन सांप्रदायिकता बढ़ाने में लगा दिया और आज भी वही कर रहे हैं।

अनेक लोगों ने आजादी के संघर्ष और आजादी के बाद भी बहुत सहा है। तभी देश को आजादी मिली, जिसे नवउदारवादियों ने खतरे में डाल दिया है। मुलायम सिंह अडवाणी के दुखों पर द्रवित होते वक्त लोहिया का ही उदाहरण सामने रख लेते, जिन्हें भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान लाहौर किले में अमानुषिक यातनाएं दी गई थीं। आजादी के बाद वे सबसे ज्यादा बार जेल में डाले जाने वाले नेता थे। जेल जाना लोहिया के राजनीतिक संघर्ष का अविभाज्य हिस्सा था। लिहाजा, उन्होंने कभी इसकी शिकायत नहीं की। लेकिन एक बार उन्हें कहना पड़ा कि नेहरू की पुलिस ने उनके साथ बदसलूकी में अंग्रेजों की पुलिस को पीछे छोड़ दिया।

अडवाणी आजादी के आंदोलन में हिस्सेदार नहीं थे कि उन्हें कुछ सहना पड़ता। वे सिंध इलाके से सुरक्षित और सुभीते से पाकिस्तान से भारत आए। कराची में वे पहले से आरएसएस के सदस्य थे और 1947 में आरएसएस के सचिव चुने गए थे। तभी आरएसएस की तरफ से उन्हें दंगों का जायजा लेने के लिए राजस्थान भेजा गया था। 1951 में जब जनसंघ का गठन हुआ तो वे उसके सदस्य बन गए। उन्होंने बैठे ठाले की हिंदुत्ववादी राजनीति की है, जिसमें अल्पसंख्यकों के खिलाफ भड़काऊ बयान देने के अलावा कुछ करने की जरूरत नहीं होती। ज्यादा कुछ करना हो तो पाकिस्तान की कड़े शब्दों में भर्त्सना कर दो। आगे हम देखेंगे कि यही अडवाणी संघ/भाजपा के प्रधानमंत्री पद के दावेदार हैं।

भाजपा में अडवाणी के बाद अब नरेंद्र मोदी का नाम आता है। नरेंद्र मोदी की चर्चा का बाजार आजकल काफी गरम है। उनका बोलना सुनें तो रामदेव की तरह उनके पास हर मर्ज की दवा है। किसी भी सवाल के जवाब में उन्हें रामदेव की तरह ही सोचने-विचारने के लिए पल भर भी रुकना नहीं पड़ता। वे जताते हैं कि मनमोहन सिंह कुछ नहीं जानते और वे सब कुछ जानते हैं। जाहिर है, जानने से उनका मतलब बोलने से होता है। यानी मनमोहन सिंह कुछ नहीं बोलते तो कुछ नहीं जानते, नरेंद्र मोदी खूब बोलते हैं तो सब कुछ जानते हैं। लेकिन वाचालता उन्हें मनमोहन सिंह से बड़ा नहीं बना देती। मनमोहन सिंह असली फर्जी हैं, जिनके सामने नरेंद्र मोदी, कारपोरेट जगत की लाख अभ्यर्थना करने के बावजूद, हमेशा नकली फर्जी रहेंगे।

कह सकते हैं कि अडवाणी अगर वाजपेयी के बिंगड़ैल संस्करण हैं तो नरेंद्र मोदी अडवाणी के। नरेंद्र मोदी पर कुछ विस्तार से चर्चा करते हैं। वे अडवाणी से अलग अपनी एक योग्यता - कारपोरेट घरानों को रिझाने की कवायद - का जम कर प्रदर्शन कर रहे हैं कि कारपोरेट जगत उन्हें अपना उम्मीदवार बना ले।

कारपोरेट जगत कभी कच्ची गोली नहीं खेलता। वह पूरी गारंटी चाहेगा कि भाजपा का भविष्य का यह नेता पार्टी को छुटभैये व्यापारियों की हित-पोषक नहीं बनी रहने देगा; नवउदारवादी फैसलों को पूरी तरह और तेजी से लागू करेगा।

मीडिया नरेंद्र मोदी का पूरा साथ दे रहा है। मीडिया की चर्चा में वही शख्स, विचार, घटना रहती है जिसकी नाल नवउदारवाद के साथ जुड़ी हो। भारत का मुख्यधारा मीडिया हर उस शख्स अथवा आंदोलन को सिर पर उठा लेता है, जो परोक्ष-अपरोक्ष तौर पर कारपोरेट पूँजीवादी व्यवस्था को बचाने और मजबूत बनाने का काम करते हैं। ऐसा करते वक्त भले ही वे सांप्रदायिकता, जातिवाद, परिवारवाद-वंशवाद, क्षेत्रवाद आदि को बढ़ावा देते हों और अंधविश्वास व अपसंस्कृति फैलाते हों। नब्बे के दशक की शुरुआत, जब संविधान की अवहेलना करके देष की अर्थव्यवस्था को कारपोरेट पूँजीवाद के षिकार के लिए खोला गया, मीडिया का यह चरित्र बनने लगा और पिछले एक दशक में परवान चढ़ चुका है। भष्टाचार विरोधी आंदोलन से लेकर मोदी के अंध समर्थन तक उसकी यह भूमिका देखी जा सकती है। राजनीति फर्जी होगी तो मीडिया भी फर्जी होता जाएगा।

भष्टाचार विरोधी आंदोलन के एक अगुआ और बाजारवाद के बाबा रामदेव ने हाल में खुल कर भाजपा नेतृत्व को सलाह दी है कि वह मोदी को प्रधानमंत्री का उम्मीदवार बनाए। पिछले दो सालों में देश की जनता यह देख चुकी है कि रामदेव, अन्ना हजारे और अरविंद केजरीवाल का, वर्चस्व की आपसी लड़ाई के बावजूद, एक ही घराना है। भष्टाचार विरोधी आंदोलन के दौरान तीनों धी-शक्कर थे और आंदोलन की समाप्ती के उपरांत भी तीनों के तार कई तरह से आपस में जुड़े हुए हैं। सभी ने देखा कि गुजरात का चुनाव मोदी ने तीसरी बार आसानी से जीत लिया, लेकिन इन तीनों बड़बोलों में से किसी ने उस चुनाव में मोदी के खिलाफ चुंकार तक नहीं की। स्वाभाविक है कि मीडिया को ये तीनों नरेंद्र मोदी की तरह ही प्यारे हैं।

मीडिया में मिली तेज उछाल से नरेंद्र मोदी पूरे उत्साह में है। उनका उत्साह और बढ़ जाता है जब यूरोप और अमेरिका को उनमें दूसरा मनमोहन सिंह नजर आने लगता है। वे यूरोपियन यूनियन के कारकूनों के साथ मुलाकात और खान-पान करते हैं। मीडिया सारी घटना को इस तरह परोसता है, मानो वे लोग आधिकारिक तौर पर 'भारत के भावी प्रधानमंत्री' से मिलने आए हों। यह सच्चाई जनता की निगाह से छिपा ली जाती है कि वह मुलाकात मोदी और उनके हिमायती गुट द्वारा प्रायोजित थी। साम, दाम, दंड, भेट; छल, कपट, झूठ, फरेब, षड्यंत्र - आरएसएस के हिंदुत्व में सब कुछ चलता है।

कुछ बुद्धिजीवियों को यह देख कर सदमा लगता है कि दुनिया को लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, मानवाधिकार, कानून का शासन, सबको समान न्याय आदि का पाठ पढ़ाने वाला अमेरिका और यूरोपियन यूनियन भला नरेंद्र मोदी का समर्थन कैसे कर सकते हैं? पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की परंपरा में पगे ये भले लोग आज भी मानने को तैयार नहीं हैं कि यूरोप और अमेरिका की ये चिंताएं खोखली हैं। मुनाफा और वर्चस्व बनाए रखने के लिए वे एक से बढ़ कर एक तानाशाह और कातिल को अपना समर्थन देते रहे हैं। बस, उनके आर्थिक और सामरिक वर्चस्व को बाकी दुनिया में चुनौती नहीं मिलनी चाहिए। अगर कोई वैसी हिमाकत

करता है तो उसे नेस्तनाबूद कर दिया जाता है। हम यह इसलिए कह रहे हैं कि फर्जी राजनीति और आंदोलन को फर्जी मीडिया किस तरह से परोसता है और फर्जी नागरिक समाज किस तरह लौकता है। भारत समेत ज्यादातर तीसरी दुनिया के लोगों ने अपने हाल और मुस्तक्विल के बारे में खुद सोचना और फैसले लेना बंद कर दिया है। हमारे सारे फैसले यूरोप और अमेरिका में लिए जाते हैं। भारत में हम केवल अपना धर्म, जाति और इलाका निभाते हुए उन फैसलों के नीचे जीते-मरते हैं। भारत के कारपोरेट घरानों और यूरोप-अमेरिका का नरेंद्र मोदी के समर्थन का मंसूबा साफ है - भारत के सभी राज्य 'गुजरात मॉडल' की रोशनी में अपना विकास करें, यानी संविधान को पीछे और कारपोरेट घरानों और यूरोप-अमेरिका की बहुराष्ट्रीय कंपनियों को आगे रख कर चर्चें। उन्हें इससे एक और फायदा है। कारपोरेट पूँजीवाद जितना बढ़ेगा, हिंसक प्रतिरोध भी उतना ही बढ़ेगा। (क्योंकि कारपोरेट पूँजीवाद के उत्पाद एनजीओ और सिविल सोसायटी एक्टिविस्ट वास्तवकि राजनीतिक प्रतिरोध की जमीन तैयार नहीं होने देते। उन्होंने मिल कर अब आम आदमी के नाम पर एक राजनीतिक पार्टी ही बना ली है।) हिंसक प्रतिरोध को दबाने के लिए विदेशी कंपनियों का सुरक्षा बलों व खुफिया एजेंसियों को विषेषज्ञता, तकनीक, उपकरण और हथियार बेचने का मुनाफे का सौदा तेज होगा।

कहने की जरूरत नहीं कि नरेंद्र मोदी का बहुप्रचारित 'गुजरात मॉडल' हिंदुत्व की प्रयोगशाला में ढल कर निकला है। 'गुजरात मॉडल' फैलेगा तो कट्टरपंथ भी फैलेगा। उससे निपटने के लिए भारत की सरकारों को और उपकरणों और हथियारों की जरूरत होगी। कट्टरपंथियों को भी उपकरण और हथियार चाहिए होते हैं। नवसामाज्यवादी निजाम वह खुशी-खुशी उपलब्ध कराएगा। कट्टरपंथियों को हथियारों की ऐसी चाट लगा दी गई है कि वे अपने शरीरों को भी हथियार बना लेते हैं। यह पूँजीवादी निजाम दो मजबूत पहियों पर चलता है - बाजार और हथियार। नरेंद्र मोदी दोनों की गारंटी देने के लिए कारपोरेट घरानों और यूरोपी-अमेरिकी नेतृत्व के सामने कठपुतली की तरह नाच रहे हैं। इस कदर कि विदूषक लगने लगे हैं। मनमोहन सिंह को कारपोरेट पूँजीवाद का रोबो (मशीन) कहा जा सकता है तो नरेंद्र मोदी की छवि कारपोरेट पूँजीवाद के विदूषक की बनी है।

हमने कुछ महीने पहले लिखा था कि आरएसएस एक सोची-समझी रणनीति पर काम कर रहा हो सकता है। नरेंद्र मोदी को वह इसीलिए टिटकारी दिए हुए हैं कि वह संघ परिवार का भविष्य का राष्ट्रीय नेता है। पिछले 20-25 सालों का नवउदारवादी दौर आरएसएस को सबसे ज्यादा फला है। इस बीच कारपोरेट-सेवी युवाओं की जो फसल तैयार होकर आई है, वह ज्यादातर अंधविश्वासी और सांप्रदायिक है। उसका भारत के संविधान और आजाठी के संघर्ष, और सह-अस्तिव की विरासत से कोई वास्ता नहीं है। भारत को अमेरिका बनना चाहिए, बल्कि वह जल्दी ही एक दिन बनेगा, ऐसा उसका दृढ़ (अंध)विश्वास है। नरेंद्र मोदी इसी फसल के स्वाभाविक नेता हैं। उनके अभी तक के नेता मनमोहन सिंह उन्हें थके हुए लगने लगे हैं। देष के तेज विकास और महाशक्ति बनने की हवा बांधने वाले ये लोग अपने को ही पूरा देश मानते हैं। यानी सब कुछ उन्हें सबसे पहले अपने लिए चाहिए। नवउदारवाद के तहत बन रहे फर्जी भारत के ये फर्जी नागरिक हैं।

कहना होगा कि यह युवा बिराटरी अपने आप ऐसी नहीं बन गई है। मनमोहन सिंह के साथ नवउदारवाद और संघ परिवार के साथ संप्रदायवाद के समर्थकों ने मिल कर जो माहौल तैयार किया, यह उसकी फसल है। आपने देखा है कि भारत के पूर्व राष्ट्रपति डॉ. एपीजे अब्दुल कलाम इनके हसीन सपनों को किस कदर हवा देते थे। यह सही है कि भारत की पूरी युवा आबादी के मुकाबले अभी कारपोरेट-सेवी युवाओं की संख्या काफी कम है। बड़ी संख्या ऐसे युवाओं की है, खास कर युवतियों की, जो सांप्रदायिक और अंधविश्वासी नहीं हैं। इसीलिए नरेंद्र मोदी, प्रधानमंत्री बनना दूर, अभी गुजरात के बाहर सांसद का चुनाव भी नहीं जीत सकते। लेकिन आरएसएस को विश्वास है, भविष्य में उसकी विचारधारा फैलेगी; तब गठबंधन की मजबूरी नहीं रहेगी; उस समय ‘आदर्श हितृत्ववादी’ नरेंद्र मोदी उसके प्रधानमंत्री होंगे। बीच का समय निकालने के लिए, अटल बिहारी वाजपेयी के समय में कट्टर कहे जाने वाले, लालकृष्ण अडवाणी का सहारा लिया जाएगा।

16 साल के प्यार के बाद कहा जा सकता है कि जदयू संघी घराने का ही अविभाज्य अंग है। उसके नेताओं ने रामविलास पासवान, मायावती, ममता, नवीन पटनायक, चंद्रबाबू नायडू, एम करुणानिधि, जे जयललिता आदि की तरह बीच-बीच में संघ को छोड़ा नहीं है। आपने हाल में देखा कि जदयू नेताओं ने दिल्ली में आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय परिषद की बैठक में धर्मनिरपेक्षता के संवैधानिक मूल्य पर अपना पाखंडी रवैया एक बार फिर बखूबी दिखाया ताकि मुसलमानों का वोट उनकी झोली से बाहर न जाए। उन्होंने आरएसएस के स्वयंसेवक और भाजपा के शीर्षस्थ नेता रहे अटल बिहारी को पूरमपूर धर्मनिरपेक्ष बताते हुए, उनके जैसे नेता को प्रधानमंत्री का उम्मीदवार बनाने की सलाह भाजपा को दी। यह सब जानते हैं कि संघ परिवार की सांप्रदायिक विचारधारा के अंतर्गत कट्टरता और उदारता की लाइन चलती हैं। वाजपेयी की उदारता सांप्रदायिक विचारधारा की उदारता है, जिसके तहत देष के संविधान के साथ छल करके सत्ता पाई जाती है।

जदयू नेताओं की नजर में अब लालकृष्ण अडवाणी धर्मनिरपेक्ष नेता हो गए हैं। अडवाणी को प्रधानमंत्री पद का उम्मीदवार बनाए जाने पर गठबंधन नहीं छोड़ने की बात करने वाले ये वही नेता हैं जिन्होंने भाजपानीत केंद्र की राजग सरकार में शामिल होते वक्त कहा था कि अगर भाजपा अडवाणी को प्रधानमंत्री बनाती तो वे सरकार में शामिल नहीं होते। उनके लिए अब कट्टर मोदी के मुकाबले अडवाणी उदार हो गए हैं। दरअसल, भाजपा को जदयू नेताओं के मोदी संबंधी परोक्ष-अपरोक्ष हवालों से नाराज न होकर उनका शुक्रगुजार होना चाहिए। जदयू नेतृत्व ने कहा है कि वे मोदी का समर्थन इसलिए नहीं कर सकते क्योंकि मोदी ने गुजरात दंगों से निपटने के लिए मुस्तैदी से काम नहीं लिया। यह कह कर जदयू नेताओं ने 2002 में नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में हुए मुसलमानों के राज्य-प्रयोजित नरसंहार और उसे छिपाने के लिए किए गए षड्यंत्रों से मोदी को बरी कर दिया है।

बाबरी मस्जिद ध्वंस के रथी अडवाणी को अपना नेता स्वीकार करने के साथ जदयू नेताओं ने भाजपा के साथ अपने 16 साल पुराने प्यार का बखान भी किया है। लेकिन उन्हें यह भी कहना चाहिए कि उतने ही सालों से वे मुसलमानों के साथ फर्लट कर रहे हैं। यह सारी कलाबाजी बिहार में मुसलमान वोटों को

कब्जे में रखने के लिए की जा रही है। अपने को सेकुलर जताने वाले दलों और नेताओं का हर राज्य और देश के स्तर पर यही रवैया बना हुआ है। सभी ताक में रहते हैं कि चुनाव में मुसलमान उनकी झोली में गिरें। यह न केवल संविधान विरोधी रवैया है, नागरिक के तौर मुसलमानों की तौहीन है। हर सेकुलर पार्टी में सत्ता का सुख भोगने वाले चंद मुसलमान नेता भी पूरे समुदाय की यह दुर्दशा बना कर रख देने में हिस्सेदार बनते हैं। भाजपा सेकुलर दलों के इस रवैये का फायदा उठाकर हिंदू वोट बैंक की राजनीति करती है और हमेशा मुख्य विपक्षी पार्टी बनी रहती है।

हमारा मानना है कि यह दुष्यक्र तभी तोड़ा जा सकता है जब देश के मुसलमान नागरिक कम से कम एक बार आमचुनाव और एक बार सभी विधानसभा चुनावों में वोट नहीं डालने का कड़ा फैसला लें। भारत की राजनीति में उससे बड़ा बदलाव हो सकता है। मुसलमानों के इस 'सत्याग्रह' से धर्मनिरपेक्षता के दावेदार और सांप्रदायिकता के झंडाबरदार - दोनों संविधान की ओर लौटने के लिए मजबूर होंगे। और तब देष का संविधान सांप्रदायिकता पर भारी पड़ेगा।

पूंजीवाद के सिर पर स्वराज की टोपी

दिवंगत साथी हरभगवान मैंहदीरता की बहन सत्या ने हमें बताया कि जस्टिस जेएस वर्मा की पत्नी ने उनसे आम आदमी पार्टी की सदस्य बनने का आग्रह किया। सत्या के विचार काफी रेडिकल हैं और वे अपने ढंग की स्त्रीवादी और समाज-सुधारक हैं। राजनीति को समाज से जोड़ कर देखती हैं और उससे भी ज्यादा राजनीति करने वालों के व्यक्तिगत आचरण से। उन्होंने जस्टिस वर्मा की पत्नी को यह कह कर सदस्य बनने से इनकार कर दिया कि उस पार्टी के बनाने वाले एनजीओ चलाने वाले हैं। उनमें समाज के लिए कोई दर्द या दृष्टि होती तो उन्होंने अपने बूते कुछ काम किया होता।

ये लोग पहले 'मैं अन्ना हूं' की टोपी पहनते थे। आजकल 'मैं आम आदमी हूं' और 'मुझे चाहिए स्वराज' की टोपी लगाए होते हैं। आम आदमी के बारे में हमने पहले आपको बताया था कि उसका गांधी के आखिरी आदमी से कोई लेना-देना नहीं है। मिश्रित और पिछले बीस-पच्चीस सालों की नई आर्थिक नीतियों का लाभ उठाकर मुटाया मध्यवर्ग खुद आम आदमी बन बैठा है। पिछले दिनों केजरीवाल ने दिल्ली में बिजली-पानी के मुददे पर अनशन किया था। अखबार में छपी एक दिन की तस्वीर में प्रशांत भूषण 'मुझे चाहिए स्वराज' की टोपी लगा कर बैठे थे, जिस पर फोटोग्राफर ने फोकस किया था। शायद यह सोच कर कि बेचारे भले लोग स्वराज के लिए कितनी तकलीफ उठा रहे हैं। वह तस्वीर देख कर हमारे मन में आया कि एक पेशी का कई लाख रुपया लेने वाले, इलाहाबाद में करोड़ों के मकान को कौड़ियों में अपने नाम लिखवा लेने वाले और दिल्ली, नोएडा, हिमाचल में मकान-प्लाट रखने वाले इन महानुभाव को और कितना स्वराज चाहिए? एक 'समय संवाद' में हमने इस मंडली के स्वराज का पाखंड रचने के वाकये का जिक्र किया था कि किस तरह से 2007 के आमचुनाव में उन्होंने मनमोहन सिंह, सोनिया गांधी और अडवाणी से स्वराज मांगने के बड़े-बड़े होर्डिंगों से दिल्ली को पाट दिया था।

स्वराज का विचार तिलक युग से शुरू होकर गांधी तक आता है और गांधी उसे आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के विकल्प के रूप में विकसित करते हैं। स्वराज्य के बारे में गांधी का कहना था कि आजादी के साथ जो मिलने जा रहा है, वह उनके सपनों का स्वराज्य नहीं, इंग्लैंड के संसदीय लोकतंत्र का एक रूप होगा। गांधी को यह तो स्पष्ट था कि उनके सपनों का स्वराज्य फलीभूत होना लगभग नामुमकिन है। लेकिन उस दिशा में उनके प्रयास अंत तक बने रहे ताकि, कम से कम लोगों की सोच में, कुछ हद तक उस विचार की उपस्थिति बनी रहे। उनका प्रयास बिल्कुल व्यर्थ नहीं गया। गांधी का विस्तार कहे जाने वाले लोहिया ने यह कहा कि समाजवाद में गांधीवाद का फिल्टर लगाना होगा। अस्सी के दशक तक भारत की सरकारें भी, भले ही आधे-अधेरू रूप में, गांधी के स्वराज्य से कुछ न कुछ प्रेरणा लेती थीं। पिछले 25 सालों की नवसाम्राज्यवादी धुसपैठ के बावजूद देश और दुनिया में अनेक लोग और संगठन, भले ही वे अलक्षित रहते हों, गांधी के स्वराज्य के विचार से प्रेरणा लेकर काम करते हैं।

यह बहुत चिंता की बात है कि कुछ एनजीओ वालों ने गांधी के स्वराज्य को कारपोरेट पूँजीवाद की टोपी बना दिया है। हमने कई बार यह उल्लेख किया है कि नवसाम्राज्यवादी व्यवस्था का गांधी को मिटाने का लक्ष्य है। क्योंकि हथियार और बाजार के बल पर चलने वाली इस सभ्यता का मूलभूत विकल्प साहसपूर्वक और सुचिंतित रूप में केवल गांधी ने दिया है। अपना यह लक्ष्य सिद्ध करने के लिए नवउदारवादी व्यवस्था गांधी को एप्रोप्रिएट करती है और अक्सर विकृत करती है। एप्रोप्रिएशन का उदाहरण संयुक्त राष्ट्र द्वारा गांधी जयंती को अहिंसा दिवस घोषित करने से लेकर गांधी के नाम पर देहाती गरीब परवारों के एक व्यक्ति को साल में 100 दिन अधिकतम 189 रुपये की दिहाड़ी पर काम देने वाले यूपीए सरकार के मनरेगा तक देखा जा सकता है। सरकार की नजर में गांधी गरीबों के भगवान हैं जिन्हें उनके नाम पर योजना बना कर गरीबों को दे दिया गया है? इससे ज्यादा और क्या चाहिए? गांधी को विकृत करने के अनेक उदाहरणों में से एक इन तथाकथित स्वराजवादियों का है। आप देखते हैं, भ्रष्टाचारियों को फांसी देने और उनका मांस गिर्दधों-कौओं को खिलाने का बार-बार ऐलान करने वाले अन्ना हजारे को मीडिया में लगातार गांधीवादी लिखा जाता है। ऐसा प्रमादवश नहीं है। यह गांधी को विकृत करने की वह रणनीति है जिसके तहत नवउदारवादी दौर में पली-बढ़ी पीढ़ी को बताया जाता है कि गांधी ऐसा था।

मेधा पाटकर और अरुणा राय अनशन पर बैठे केजरीवाल को देखने गईं और उन्हें अपना समर्थन दिया। यह एनजीओ घराना है, जिसमें केंद्र और परिधि का अंतर हो सकता है, लेकिन इस पर सब एक मत है कि समाजवादी राजनीति और विचारधारा की जरूरत अब नहीं है। मनमोहन सिंह और उनकी मंडली भी यही कहते हैं। अरुणा राय जब कहती हैं कि लोग जाग गए हैं, सवाल पूछते हैं, तो उसका यही अर्थ है कि एनजीओ वालों ने लोगों को जगाया है और सवाल पूछने के लिए तैयार किया है। लेकिन पलट कर उनसे कहा जा सकता है कि एक परिवार के एक सदस्य को साल के 100 दिन धूल-मिट्टी का काम देने का कानून बना कर संविधान प्रदत्त बराबरी के हक पर डाका डाला गया है।

नर्मदा बचाओ आंदोलन और उसकी नेत्री मेधा पाटकर की बड़ी चर्चा रही है। हालांकि जिन बड़े बांधों के खिलाफ वह आंदोलन था, नर्मदा बांध समेत उनके निर्माण पर कोई रोक नहीं लगी है। हरसूद और टिहरी जैसे शहर डूब गए और बड़े-छोटे बांधों की लंबी फेहरिस्त सरकारों के पास है। तसल्ली के लिए हम सभी लोग कहते हैं कि उस आंदोलन से जागरूकता फैली और विस्थापितों की कुछ हद तक सहायता हो पाई। लेकिन यह आंदोलन एनजीओ का सहारा नहीं लेता, और राजनीतिक होता, तो भले ही थोड़ा, लेकिन नवउदारवाद के विरुद्ध निर्णायक फर्क पड़ सकता था।

ऐसा नहीं है कि नर्मदा बचाओ आंदोलन राजनीतिक हो नहीं पाया। किशन पटनायक के लाख प्रयासों के बावजूद वह होने नहीं दिया गया। कहने की जरूरत नहीं कि राजनीतिक नहीं होने की वजह से वह खुद अष्टाचार विरोधी आंदोलन में जा कर डूब गया। देख सकते हैं कि अष्टाचार विरोधी आंदोलन का सूरज भी डूब चुका है और अन्ना हजारे अलग-अलग जगहों व मुद्रों पर हाथ-पैर मारते घूमते हैं। बीच-बीच में कहते हैं कि जन लोकपाल बनवा कर दम लेंगे। आंदोलन के पीछे कोई स्वतंत्र विचार नहीं होता, उद्देश्य नहीं होता, तो वह दिग्भ्रमित हो जाता है। अगर विचार और उद्देश्य नवउदारवाद के पेटे में समाने वाले हों तो आंदोलन उसी में डूब जाता है। अष्टाचार विरोधी आंदोलन के साथ यही हुआ है। विश्व बैंक का आदमी कोई वहां नौकरी करके ही नहीं होता। न ही उसका पुरस्कार पाकर, जैसा कि अन्ना हजारे को काफी पहले मिला था, कोई विश्व बैंक का आदमी हो जाता है। अलबता उसकी नवउदारवादी नीतियों और कार्यक्रमों को मानने-चलाने वाला व्यक्ति विश्व बैंक का आदमी होता है। अन्ना हजारे, अरुणा राय, केजरीवाल आदि वही हैं।

हम आपको बता चुके हैं कि असली झगड़ा सोनिया गांधी की सलाहकार परिषद में रहने और सोनिया गांधी-मनमोहन सिंह की नजर में ज्यादा प्रभावशाली बनने का था, जो बढ़ गया। कांग्रेस में कई वकील हैं। उनमें पी चिंबरम, कपिल सिब्बल और अभिषेक मनु सिंघवी अग्रणी हैं। प्रशांत भूषण को लगता होगा कि वे इतने नामी वकील हैं, उन्हें क्यों नहीं ऑफर दिया जाता? अपने पिता की नजीर उनके सामने थी। आप हैरान न हों, शासक वर्ग के दायरे में यह सब सोचना-समझना होता रहता है। इनमें से कुछ लोग कांग्रेस का और कुछ लोग भाजपा/संघ का काम करते ही थे। खबरें हैं कि आम आदमी पार्टी में कुछ लोगों को कांग्रेस ने प्लांट किया है ताकि भाजपा के मध्यवर्ग के वोट खराब किए जा सकें और शीला दीक्षित चौथी बार चुनाव जीत जाएं। 'अभूतपूर्व' आंदोलन और 'नई' राजनीति के नाम पर यह फर्जीवाड़ा आपके सामने है।

धन और मीडिया की ताकत के बावजूद अगर मध्यवर्ग मेहनतकर्शों का अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल नहीं कर पाया तो इस पार्टी के कुछ नेता कांग्रेस में और कुछ भाजपा में चले जा सकते हैं। कुछ, जो वाकई आदर्शवादी भावना से जुड़े हैं, डिप्रेशन या सिनिसिज्म का शिकार हो सकते हैं। यह कहते हुए कि इस देश में, खास कर राजनीति में, कुछ नहीं हो सकता। राजनीति बहुत बुरी होती है, कल तक ये लोग ही चिल्ला-चिल्ला कर कहते थे। ऐसा न हो, पार्टी बिखरे नहीं, इसके लिए दिल्ली का चुनाव लूटने की मुहिम में दिन-रात दौड़-धूप की जा रही है। दिल्ली फतह तो देश फतह!

दिल्ली और देश की दौड़-धूप में कई समाजवादी भी लगे हैं। उन्हें ऐसा सक्रिय पहले कभी नहीं देखा था। साथी राजकुमार जैन अक्सर गुमान से कहते हैं कि समाजवादी पर किसी के रुबे का रौब गालिब नहीं होता। हो सकता है जब समाजवादी आजाद देश में जेल को अपना घर मानते थे, ऐसी कोई भावना रही हो। लेकिन इस मामले में इधर की तस्वीर बड़ी निराशाजनक है। कांग्रेस और भाजपा छोड़िए, कुछ समाजवादी केजरीवाल के कारिंदे बने घूम रहे हैं। उनकी इस विनम्रता का कारण यही हो सकता है कि उन्होंने रामदेव की संगत में 'राष्ट्रीय स्वाभिमान' का ऐसा पाठ पढ़ा है कि उनका अपना स्वाभिमान शून्य हो गया है!

कांग्रेस और भाजपा के चुनावी पंडित गणित लगा रहे हैं कि आम आदमी पार्टी किसका नुकसान करेगी। दोनों पार्टियां अपना नुकसान न होने और दूसरी का नुकसान होने का क्यास लगा कर कभी खुश होती हैं, कभी डरती हैं। आप देखेंगे कि विधानसभा चुनाव में यह 'नई' राजनीति करने वाली नई पार्टी कांग्रेस और भाजपा के असंतुष्टों को टिकट देगी। जिन्हें बसपा का टिकट नहीं मिलेगा, वे भी कुछ ले-देकर वहीं से टिकट जुगाड़ सकते हैं।

यह फर्जी राजनीति में ही हो सकता है कि कोई राजनीतिक पार्टी पंजीकरण के पहले ही आगामी आमचुनाव में सभी सीटों पर उम्मीदवार उतारने का ऐलान करे। कांग्रेस और भाजपा भी यह नहीं कर पाती हैं। जाहिर है, लोकतंत्र का यह मजाक धनबल के बूते ही किया जा सकता है। मजाक को प्रचारित करने के लिए पूरा मीडिया हाजिर है। यह नहीं भूलना चाहिए कि भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन, जिसकी राख से यह पार्टी पैदा हुई बताई जाती है, में बड़ी संख्या में राजनीति-द्वेषी, घोर प्रतिक्रियावादी और सांप्रदायिक तत्व शामिल थे। वे टोपियाँ के पीछे छिप कर अपना काम करेंगे। हमारे जो साथी आम आदमी पार्टी में मौजूद कतिपय प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष साथियों का हवाला देकर संबंध बनाए रखना चाहते हैं, वे थोड़ा रुक कर सोच लें कि मध्यवर्ग के नए नायक बनने चले ये लोग कितने प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष रह गए हैं या आगे रह जाएंगे? वह पार्टी लोकतंत्र और राजनीति को क्या नई राह दिखाएगी जो अन्ना हजारे, रामदेव और केजरीवाल के संबंध तक जनता को साफ बताने को तैयार नहीं है। जनता को इतना 'टेक इट फार ग्रांटेड' तो वे बुरे नेता और उनकी पार्टियां भी नहीं लेती जिन्हें राजनीति से बेदखल करने के दावे ठोंके जा रहे हैं।

गंभीर और परिवर्तनकारी राजनीति के युगानुसार कुछ सूत्र होते हैं। वे अलग-अलग विचारधारात्मक समूह के अलग-अलग और कुछ समान हो सकते हैं। गांधी ने राजनीति को समाज और सभ्यता से अलग न मान कर, उस लिहाज से उठने वाले एक कदम को भी पर्याप्त माना। अंबेडकर ने दलित समाज को शिक्षित होने, संगठित होने और संघर्ष करने को कहा। लोहिया ने जेल, फावड़ा और वोट का सूत्र दिया। समाजवादी जनपरिषद में विचारधारा, संगठन, संघर्ष, रचनात्मक कार्य और चुनाव के पांच सूत्र अपनाए गए थे। आम आदमी पार्टी का अगर कोई सूत्र है तो वह चुनाव लूटना हो सकता है। जाहिर है, ऐसी राजनीति कांग्रेस और भाजपा से अलग नहीं हो सकती।

यह देश की फर्जी राजनीति का परिवृश्य है। फर्जी राजनीति का एका इतना जबरदस्त है कि गठबंधन सरकार चलाने में न वाजपेयी को परेशानी हुई, न मनमोहन सिंह को है। बल्कि मनमोहन सिंह तो अल्पसंख्यक सरकार चला रहे हैं, जिसे उत्तर प्रदेश में एक-दूसरे के खून के प्यासे मुलायम और मायावती का बाहर से समर्थन है। कहने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि इस फर्जी राजनीति को भारत के नागरिक समाज का अनुमोदन है। कांग्रेस और भाजपा से अलग कोई गठबंधन या तो बनेगा नहीं, बन गया तो चलेगा नहीं। यही नागरिक समाज और मीडिया उसे गिरा देंगे।

फर्जी राजनीति का ठाठ यह है कि उसका न राजनीति में कोई विपक्ष है, न नागरिक समाज में। पिछले दिनों जो भष्टाचार विरोधी आंदोलन हुआ, वह इसलिए नहीं था कि यह फर्जी राजनीति बदलनी चाहिए, बल्कि इसलिए था कि भारत का 'महान' मैथ्यवर्ग यह जताना चाहता है कि उसकी नैतिकता मर नहीं गई है। शुरू में उसने मनमोहन सिंह की ईमानदारी की छाया में अपने को भुलाए रखा और आर्थिक सुधारों की मलाई खाता रहा। क्योंकि वैसी कोई छाया थी ही नहीं, तो उसे झटका लगा और वह चारों तरफ से नैतिक-नैतिक चिल्लाते हुए दौड़ पड़ा। हाल में नागरिक समाज दिल्ली में हुए दो बलात्कार के मामलों को लेकर हद दरजे तक उत्तेजित हुआ। एक संवेदनशील समाज को ऐसे जघन्य कृत्यों पर आंदोलित होना ही चाहिए। लेकिन उसका फर्जीपना पहली नजर में ही पकड़ में आ जाता है। वह सरकार को समाज से बाहर मानता है और अपने को भी। वह यह सोचने को तैयार नहीं है कि जिस सरकार ने पिछले 25 सालों से संविधान की परवाह नहीं की, उससे कानून व्यवस्था की सही पालना की अपेक्षा नागरिक समाज किस तरक्क से करता है? जब सरकार संविधान की मर्यादाओं को तोड़ती है तो यह नागरिक समाज चुप रहता है, क्योंकि उसमें उसका फायदा है। जब कानून-व्यवस्था टूटती है तो बौखलाता है, क्योंकि उसे अपनी सोने की लंका खतरे में नजर आती है।

फर्जी नागरिक समाज की फर्जी राजनीति और फर्जी राजनीति का फर्जी नागरिक समाज। कहने का आशय यह है कि जब फुलफ्लेजेड फर्जी राजनीति चलेगी तो जीवन के सभी क्षेत्रों में फर्जीवाड़ा न हो, यह संभव नहीं है। उदाहरण देने लगें तो पूरा पुराण तैयार हो जाएगा। हमारे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक प्रतीकों में भी फर्जीवाड़े की घुसपैठ हो चुकी है, यह एक उदाहरण से बताना चाहेंगे। फिल्म अभिनेता आमिर खान सरकार और कंपनियों के एक से प्रिय हैं। उनका विरुद्ध भी विदेशी पत्रिकाओं में आ चुका है। वे अमिताभ बच्चन के नक्षे कदम पर हैं - माल भी बनाओ और नाम भी कमाओ। आज बच्चों के हक में 'कुपोषण भारत छोड़ो' का विज्ञापन करने वाले आमिर खान ने कोकाकोला का विज्ञापन करना तब भी नहीं छोड़ा था जब कोक-पेप्सी में बच्चों की सेहत के लिए नुकसानदेह तत्व होने की सच्चाई सामने आई थी। उल्टा वे कंपनी के पक्ष में विज्ञापनबाजी पर उत्तर आए थे।

भारत छोड़ो आंदोलन आजादी के संघर्ष का विशिष्ट और निर्णायक पड़ाव है। उससे प्रेरणा लेकर नवसाम्राज्यवाद के खिलाफ पिछले बीस सालों से नारा लगाया जाता है - विदेशी कंपनियां भारत छोड़ो। ईस्ट इंडिया कंपनी के राज में पड़े अकालों में कई लाख भारतीय मारे गए। अब भारत में अनेक बहुराष्ट्रीय कंपनियां लूट मचाए हुए हैं। बच्चों के कुपोषण का संबंध इन कंपनियों की लूट और उस लूट

के हिस्सेदार आमिर खान जैसे लोगों से है। नवउदावादी समाज सुधारकों और देशभक्तों में गजब का उत्साह होता है। आमिर खान और सरकार भारत छोड़ो आंदोलन की थाती को हजम करके ही नहीं रुक जाते। 'सत्यमेव जयते' जैसे राष्ट्रीय वचन को भी हजम कर जाते हैं। यह प्रोग्राम करके, बताया जाता है, आमिर खान ने कंपनियों से करोड़ों रुपया कमाया। अब वे कमाई की किसी और जुगत में लगे होंगे। इन फर्जी समाज सुधारकों और देशभक्तों का संसद में भी स्वागत होता है और नागरिक समाज में भी। {2014 के आम चुनाव में नरेंद्र मोदी की जीत के बाद उनसे सबसे पहले मिलने वाले लोगों में आमिर खान शामिल थे.}

आप कहेंगे कि हमने फर्जी राजनीति और उसके अनुमोदक फर्जी नागरिक समाज का दर्शन तो खूब करा दिया, अब उसे बदलने का 'दर्शन' भी कुछ बताएं। दरअसल, हर 'समय संवाद' के अंत में आगे के रास्ते का सवाल खड़ा हो जाता है। हम एक बार फिर डॉ. लोहिया के हवाले से कहना चाहते हैं कि राजनीतिक मानस के निर्माण का अधूरा छूटा काम जल्द से जल्द पूरा किया जाए। इसके लिए जरूरी है कि सच्ची प्रेरणा रखने वाले लोग एनजीओ नहीं, राजनीति में जाएं। उसके लिए जरूरी नहीं है कि हमेशा नई पार्टी बनाई जाए या किसी क्रांतिकारी पार्टी में ही शामिल हुआ जाए। प्रेरणा अगर सच्ची है तो स्थापित दलों में रह कर भी परिवर्तन की राजनीति की जा सकती है। नजरिया अगर राजनीतिक है तो बिना किसी राजनीतिक पार्टी में रहे भी परिवर्तन की राजनीति में सहायक हुआ जा सकता है। क्योंकि राजनीतिक नजरिया होगा तो राजनीति और नागरिक समाज में चल रहे फर्जीवाङ्कों की पहचान होगी। तब लोग भी पहचानेंगे और अपने और देश के संविधान के हक में नवउदावादियों के खिलाफ उठ खड़े होंगे।

23 अप्रैल 2013